योग-साधना : एक पर्यवेक्षण

☐ उपाध्याय प्रवर्तक श्री फूलचन्दजी म० 'श्रमण'

यह विराट् विश्व चलचित्र की तरह परिवर्तनशील है। प्रतिपल प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। जीवन में कभी उत्थान होता है तो कभी पतन, कभी विकास होता है तो कभी ह्रास। आध्यात्मिक दृष्टि से विकास होने का अर्थ है मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को क्रमशः नष्ट करना। जब मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती हैं तब आत्मा का पुनः पतन नहीं होता। वह उत्तरोत्तर विकास करता जाता है और एक दिन अपने अंतिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

मानव-जीवन की सफलता धर्म साधना में है। साधना के अनेक अंग हैं। सर्वप्रथम मानव में मानवता का होना आवश्यक है। मानव जाति, धन, वैभव और विद्या से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ नहीं माना गया है, अपितु मानवता का विकास ही श्रेष्ठता का प्रथम सोपान है। मानवता के बिना मानव निर्गन्ध पुष्प के समान है जो देखने में सुन्दर होने पर भी अपनी मधुर सौरभ के अभाव में जन-जन के मन को आकर्षित नहीं कर सकता। बिना मानवता के धर्म विकसित नहीं हो सकता। मानवता की सुदृढ़ नींव पर धर्म के भव्य भवन का निर्माण होता है। जैसे श्रेष्ठ फूल के लिए माली की देखरेख आवश्यक है वैसे ही मानवता के विकास के लिए, सर्वांगीण परिपूर्णता के लिए धार्मिक संस्कार एवं साधना अपेक्षित है। मानव अपने पुरुषार्थ से ही साधना के पवित्र पथ पर बढ़ सकता है। साधना का मार्ग सरल नहीं अपितु कठिन है। सभी उस महामार्ग पर नहीं बढ़ सकते और न सभी की रुचि उस ओर बढ़ने की हो सकती है।

प्राचीन मनीषियों ने साधक के विकास के लिए कुछ लक्षण निर्धारित किये हैं। शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी उनका महत्त्व किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। यह एक ज्वलन्त सत्य है कि प्राचीन मनीषियों ने मानव और मानवता की स्पष्ट अनुभूति के साथ जीवन और समाज के सम्बन्ध में भी बहुत स्पष्ट चिन्तन किया है। उनका मन्तव्य है, वही साधक साधना के पथ पर निश्चित रूप से अग्रसर हो सकता है जिसकी माता पूर्ण रूप से सदाचारिणी हो, जिसके पिता का जीवन निर्मल हो, जो शारीरिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ हो, जिसके विचार निर्मल हों और जो पवित्र आत्माओं की संगति करता हो।

प्रत्येक मानव में धर्म के प्रति रुचि नहीं होती। मनोविज्ञान की दृष्टि से इसके अनेक कारण हो सकते हैं। प्राचीन आचार्यों ने अनेक कारणों का उल्लेख करते हुए बताया है कि आलस्य, मोह, धर्मकथाश्रवण के प्रति अरुचि, जाति, कुल, बल, धन, रूप, तप, ज्ञान, प्रभृति का अहंकार, प्रमाद, कृपणता, भय, शोक, अज्ञान, विक्षेप, कुतूहल, क्रीड़ाएँ, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कारणों से मानव साधना नहीं कर सकता। धार्मिक साधना के लिए प्राकृतिक संवेगों पर नियन्त्रण आवश्यक है। बिना संयम के जीवन का कोई भी व्यापार संभव नहीं है। शारीरिक और मानसिक व्याधियों के सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट कल्पना आचार्यों ने साधकों के समक्ष रखी है और साधक को राग, द्वेष, हिंसा, मोह आदि दुर्गुणों से भी बचने की प्रेरणा दी है।

साधक को जहाँ दुर्गुणों से बचने का संकेत किया गया है, वहाँ धर्म के प्रति श्रद्धा भी आवश्यक मानी है। बिना श्रद्धा के विकास संभव नहीं है। श्रद्धावान् व्यक्ति ही ज्ञान को उपलब्ध करता है। साधना के लिए सम्यक्-श्रद्धा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के अन्तर्मानस में न तत्त्वों पर श्रद्धा होती है और न स्वयं पर ही। वह कर्म-फल के प्रति भी संदेहशील होता है। श्रद्धा में जीवन प्रस्थापित करने के लिए विरोधी तत्त्वों से बचना आवश्यक है। कुशाग्र-बुद्धि साधक हंस की तरह इसका निर्णय करता है। श्रद्धा का पूर्ण विकास ही साधक में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप के रूप में फलित होता है। उसमें विनय, विवेक, धैर्य, सरलता, आदि सद्गुणों का सहज विकास होता है। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने श्रद्धा को परम दुर्लभ कहा है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि के निग्रह का नाम संयम है। संयम एक दृष्टि से उद्देश्य प्राप्ति की भावना है। जैन आगम साहित्य में संयम के सत्रह प्रकार बताये हैं। उनमें साधक को अधिक से अधिक नियन्त्रण करने के लिए कर्तव्य की पवित्र प्रेरणा देने के लिए जीवन के प्रति बहुत ही सुलझा हुआ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। मन, वचन, काया, उपेक्षा, प्रेक्षा आदि संयम स्वयं के जीवन पर नियन्त्रण प्रस्थापित करने के लिए उपयोगी हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में हम ऐसा कह सकते हैं कि प्राचीन युग में संयम के सम्बन्ध में जो चिन्तन था वह योजनाबद्ध जीवन का स्वरूप है जिसमें जीवन की प्रत्येक गति-विधि का साधक बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है एवं साधनामार्ग को प्रशस्त करता है। भगवान महावीर ने संयमी साधकों के लिए विशेष कर्तव्यों का निर्देश किया है जिनमें निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का सूक्ष्म विश्लेषण है, जिस पर साधक को मनन करना बहुत ही आवश्यक है। बीसवीं शताब्दी में विज्ञान से प्रभावित जीवन और नये मूल्यों को संलक्ष्य में रखते हुए इन कर्तव्यों का पथ-प्रदर्शक के रूप में उतना ही महत्त्व है जितना भगवान महावीर के युग में था। वस्तुतः उन प्राचीन आचार्यों के इन विमल विचारों को देश, काल, जाति आदि से मर्यादित करना बिलकुल ही संभव नहीं है। संक्षेप में उनका वर्णन इस प्रकार है—

१. अनिदानता

आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति में 'निदान' शब्द का अर्थ रोग के स्वरूप को निश्चित करना है। जैनदर्शन की दृष्टि से निदान का अर्थ है संयम, तप आदि शुभ प्रवृत्तियों को भौतिक सुख की उपलब्धि की आकांक्षा के लिए करना। निदान आध्यात्मिक उन्नति के लिए बाधक है। अतः संयम, तप, ब्रह्मचर्य आदि का निष्ठापूर्वक पालन करते समय किंचित् मात्र भी फल-प्राप्ति की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। यह सत्य है कि मानव के अन्तर्मानस में फल प्राप्त करने की आकांक्षा स्वाभाविक रूप से होती है, तथापि जहाँ तक उसके अन्तर्मानस में अनिदानता की भावना विकसित न होगी वहाँ तक साधना के मार्ग में आने वाली बाधाएँ साधक को सच्ची प्रगति नहीं करने देंगी। प्राचीन आचार्यों ने भौतिक सुखों की तुलना घास-फूस के साथ की है जो अन्न और फलों के साथ इच्छा न होने पर भी विकसित हो जाता है। इस अनावश्यक पदार्थ से मुक्ति प्राप्त करने की बौद्धिक पात्रता ही अनिदानता है। जैनाचार्यों ने निदान के नौ भेद किये हैं जो इस बात की ओर संकेत करते हैं कि सभी प्रकार की संभावनाओं की उन्हें बहुत स्पष्ट कल्पना थी जिनसे साधक को बचना आवश्यक है।

२. दृष्टि-सम्पन्नता

साधना के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण अंग सम्यक्-दर्शन है। दूसरे शब्दों में उसे सम्यक्-दृष्टि भी कहते हैं। वस्तु या पदार्थ का जो स्वरूप है उसको उसी रूप में देखना, अपनी सद्-असद् भावना का उसमें आरोप न करना सम्यक् दृष्टि है। व्यावहारिक जीवन में हम प्रत्येक तथ्य को अपनी सुविधा और इच्छा के अनुसार देखने का प्रयास करते हैं। यदि हमारी भावनाओं के विपरीत कोई भी विचार हुए तो हम उद्विग्न हो जाते हैं। यह सत्य है कि प्रकृति के नियमों के अनुसार संसार की निश्चित गति है। उस गति और क्रम के अनुसार संसार चलता है। दृष्टिसम्पन्न साधक उन घटनाओं में समभाव रखता है, चाहे वे घटनाएँ अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल हों।

आगम साहित्य में सम्यक्दृष्टि साधक के लिए—(१) निसर्गरुचि, (२) अधिगमरुचि (३) आज्ञारुचि (४) सूत्ररुचि (५) बीजरुचि (६) अभिगमरुचि (७) विस्ताररुचि (८) क्रियारुचि (९) संक्षेपरुचि (१०) धर्मरुचि का वर्णन और विश्लेषण किया है। सम्यक्दृष्टि साधक में ही धर्म-श्रद्धा का विकास स्वाभाविक रूप से होता है। उसके विचार करने की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और उसका प्रभाव आचरण पर होता है। वैचारिक दुर्बलता से ही आचार में भी दुर्बलता आती है। विचार ज्ञान का एक रूप है और सम्यक्दर्शन विचारों को निर्मल और पवित्र बनाने की साधना है। आचार की पवित्रता से आत्मा पूर्णता की ओर गति करता है। अतः सम्यक्दर्शन साधना का महत्त्वपूर्ण आयाम है।

३. योगवाहिता

मन और इन्द्रियों की गतिविधियों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए एक निश्चित साधना पद्धति का विकास किया गया है, वह योग के नाम से प्रचलित है। योग में शास्त्रज्ञान की आराधना और शास्त्रोक्त तपस्या का मधुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समन्वय है। ज्ञान का अनुभव तप से होता है और तप की साधना प्रत्येक साधक को अपने आप करनी पड़ती है। साधना में ज्ञान के द्वारा शक्ति का संचार होता है तथा तप की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। पारम्परिक योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टांग योग का विस्तृत विश्लेषण किया गया है जिसमें अनुभूतियों की प्रधानता है। अनुभवों के द्वारा ही साधक के जीवन में संयम व साधना के प्रति निष्ठा जागृत होती है।

४. क्षान्ति-क्षमणता

जैन साधना पद्धति के अनुसार अहिंसा की उत्कृष्ट साधना के परिणामस्वरूप निष्पन्न होने वाली क्षान्ति और क्षमणता है। साधक को कोई भी अनभिज्ञ व्यक्ति किसी भी प्रकार का कष्ट दे, उसका अपमान करे, तब भी उसके अन्तर्मानस में शान्ति बनी रहे, बदला लेने की भावना उद्‌बुद्ध न हो और न मन में किंचित् मात्र भी क्रोध ही उत्पन्न हो। मान-अपमान, सुख-दुःख की लौकिक मान्यताओं और कल्पनाओं से मुक्त होकर वह यह चिन्तन करता है कि मेरा कोई भी अपमान नहीं कर सकता और न मुझे कोई किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचा सकता है। जो उसे बाधाएँ पहुँचाते हैं उसके मन में उनके प्रति भी स्नेह-सद्भावनाएँ होती हैं। यह क्षमा करने की भावना साधना का महत्त्वपूर्ण अंग है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार का जीवन पूर्ण स्वतन्त्र जीवन है और यही जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगति कर सकता है। समाज और परिस्थितियों को अपने मनोनुकूल बदलना असम्भव है; पर स्वयं पर नियन्त्रण करना इसकी अपेक्षा बहुत ही सरल है। साधक को परिस्थितियाँ बदलने की आवश्यकता नहीं होती और न दूसरों के प्रति विवेकहीन असद्-विचार करने की ही आवश्यकता होती है। वह सदा क्षान्ति की सुर-सरिता में अवगाहन करता है और मारणांतिक कष्ट होने पर भी वह किसी के प्रति द्वेष नहीं करता, अपितु सहिष्णुता से उस कष्ट को सहन करता है। इसे ही आचार्यों ने क्षान्ति-क्षमणता कहा है।

५. जितेन्द्रियता

संयमी साधक का जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। सुख-दुःख, स्वाद-अस्वाद, सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि के सम्बन्ध में समाज में निश्चित मूल्य प्रस्थापित नहीं हैं। साधक का लक्ष्य इन्द्रियों से सम्बन्धित पदार्थों की ओर नहीं होता। एकाग्रता की दृष्टि से इन्द्रिय-निग्रह बहुत ही आवश्यक है। संसार की सभी साधना पद्धतियाँ इन्द्रिय-निग्रह पर बल देती रही हैं। उच्छृंखल व्यक्ति साधना का अधिकारी नहीं है। साधना तो क्या, वह किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अतः जितेन्द्रिय होना साधना में प्रगति के लिए आवश्यक है।

६ अमायाविता

विद्वत्ता से अहंकार बढ़ने की सम्भावना है। संयम और अहंकार ये एक-दूसरे के विरोधी तत्त्व हैं। संयमी साधक को अपने गुण और दोषों का स्पष्ट परिज्ञान होना चाहिए और साथ ही उन दोषों को स्वीकार करने की क्षमता भी होनी चाहिए। दोषों को कपट के द्वारा छिपाना उचित नहीं है। कपट व माया से सुगति का प्रतिघात होता है। माया से की गयी उत्कृष्ट साधना भी आराधना न होकर विराधना बन जाती है। माया दुःख का मूल कारण है। अतः साधक को सरल होने के लिए शास्त्रकारों ने संकेत किया है। अमायाविता साधक के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

७. अपार्श्वस्थता

लौकिक भाषा में पाश का अर्थ बन्धन है। साधक को संसार के आकर्षण और उनके प्रलोभनों से अपने मन को विचलित न होने देना है। प्रस्तुत अवस्था को प्राप्त करने हेतु गुरु के सान्निध्य में कल्याणकारी स्वरूप में जीवन की गति निर्धारित करना है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र श्रमण जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक अंग हैं। जिन श्रमणों में इन सद्‌गुणों का अभाव हो, आचार्यों ने उनकी संगति करने का भी निषेध किया है। कु-संगति से गुणों की हानि और दोषों की वृद्धि होती है। अतः साधक को कु-संगति से बचने का संकेत किया गया है। जो चारित्रवान् है और ज्ञान व दर्शन से सम्पन्न है ऐसे गुरु के सान्निध्य में ही साधक का जीवन विकसित हो सकता है। साधक को शारीरिक सुखों के प्रति रुचि नहीं होनी चाहिए। आहार, वेष, सुखशय्या, प्रभृति के प्रति आकर्षण नहीं होना चाहिए। संक्षेप में अपार्श्वस्थता का अर्थ हम ऐसी मानसिक अवस्था से अनुलक्षित कर सकते हैं जिसमें शारीरिक सुखों से मन पूर्णतया विरक्त हो चुका है और तथाकथित शारीरिक सुखों की चर्चा या कल्पना भी नहीं करता है। सन्तोषी जीवन का यह जीता-जागता स्वरूप है। पाशत्था के देशपाशत्था और सर्वपाशत्था ये दो भेद किये गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. सुश्रामण्यता

शास्त्रों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को संयम के नाम से सम्बोधित किया गया है। साधक को जिन विरोधी अवस्थाओं में प्रस्तुत संयम पालन करने में कठिनाइयाँ समुत्पन्न हों उनसे बचने का संकेत किया है। आचार्यों ने साधक को प्रेरणा देते हुए कहा है—तुम्हें प्राणों से भी अधिक संयम प्रिय होना चाहिए। प्रतिपल साधनों में सावधानी रखना आवश्यक है।

विनम्रता, निष्कपटता, सन्तोष, आदि सम्यक्दर्शन के मूल गुण हैं। तप से संयम की वृद्धि होती है तथा निर्दोष जीवन का विकास होता है। अशुभ कर्मों की निर्जरा होने से आध्यात्मिक प्रगति होती है। संयम और तप की आराधना करते समय यदि शारीरिक कष्ट भी होते हैं तो भी वह विचलित नहीं होता। चाहे कष्ट हो, चाहे आनन्द हो उसके लिए व्यर्थ है। वह तो दोनों ही स्थितियों में सम रहता है। सुश्रामण्यता का अर्थ हम जीवन की निर्मलता से ले सकते हैं जिसमें पवित्र जीवन व एकाग्र मन से संयम की ओर प्रगति की जाती है।

९. प्रवचनवत्सलता

जिनवाणी और संघ के प्रति वात्सल्य और प्रीति विकसित करने का प्रयास करना चाहिए। आधुनिक व्यस्त जीवन की दृष्टि से प्रवचनवत्सलता का अर्थ है वीतरागवाणी तथा सद्साहित्य की सात्विक गौरव के साथ विकसित करने की वृत्ति; धर्म से सम्बन्धित साहित्य का विविध स्वरूपों में अध्ययन-मनन करना; देश, समाज में जो अन्य प्रवाह प्रचलित हैं उनसे भी अपने आपको अवगत कराते हुए अपने धर्म के सम्बन्ध में आस्था एवं भक्ति को बढ़ाने हेतु मानसिक व बौद्धिक वातावरण तैयार करना; सद्-साहित्य का अपने मतावलम्बियों और अन्य लोगों को भी सम्यक्रूप से परिचय कराना। इससे विश्वास में अभिवृद्धि होती है तथा चिन्तन करने की क्षमता बढ़ती है।

१०. प्रवचन उद्भावना

जैन वह है जिसके अन्तर्मानस में जिनवाणी के प्रति गहरी निष्ठा-भक्ति हो और मन में जिनवाणी के प्रति किंचित् मात्र भी शंका न हो। जैन सम्बोधन को सुनकर स्वयं गौरव का अनुभव करे। स्वयं के द्वारा ऐसा कोई कार्य न हो जिससे वातावरण दूषित हो—इस दृष्टि से बहुत ही सावधानीपूर्वक और योजनानुसार जीवन यापन करे। इस प्रकार जीवन जीने से संघ की वृद्धि होती है और समान रूप से चिन्तन करने वाले व्यक्तियों का समूह एक-दूसरे को प्रेरणा देता हुआ व्यक्ति और समाज का विकास करता है। प्रवचन प्रभावना के द्वारा हम एक-दूसरे का उत्साह बढ़ाते हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि जैन मनीषियों ने श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका एवं सम्यक्दृष्टि साधक के सर्वांगीण विकास के लिए जो सिद्धान्त प्रस्थापित किये हैं, उनसे जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता है। उन्होंने फूल, स्वर्ण, अन्न, प्रभृति विविध उपमाएँ देकर जीवन की उपयोगिता को समझाने का सुन्दर प्रयास किया है। विकसित जीवन की प्रेरणा ही है। यह सिद्धान्त हजारों-लाखों वर्ष पुराने होने पर भी आज भी उनमें वही चमक और दमक है। जीवन के लिए उपयोगी हैं। आधुनिक युग में परिवर्तन होते हुए भौतिक वातावरण में प्रकाशस्तम्भ के समान मार्गदर्शक हैं।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org